जनसत्ता

28 जून, 2019

भीड़तंत्र की चुनौती

प्रधानमंत्री ने बुधवार को संसद में जिस तरह साफ लहजे में झारखंड में भीड़ के हाथों एक युवक की हत्या पर दुख जताया, उसका साफ संदेश यही होना चाहिए कि देश के किसी भी हिस्से में ऐसी घटनाएं बर्दाश्त नहीं की जाएंगी। पर विडंबना यह है कि उनके सख्त रवैये के बावजूद कुछ असामाजिक तत्त्वों को यह समझना जरूरी नहीं लगा कि ऐसी अराजकता देश को किस दिशा में लेकर जाएगी। गौरतलब है कि बीते हफ्ते झारखंड के सरायकेला जिले में तबरेज अंसारी नामक युवक को लोगों ने बुरी तरह मारा-पीटा। बाद में गंभीर चोट की वजह से उसकी मौत हो गई। जाहिर है, यह भीड़तंत्र के हावी होते जाने का ही एक और उदाहरण है, जिसमें किसी भी वजह से जमा हुए लोग इस बात पर सोचना जरूरी नहीं समझते कि उन्होंने जिस व्यक्ति को पकड़ा है अगर उस पर उन्हें किसी बात का शक है तो उस पर कानून के मुताबिक कार्रवाई होनी चाहिए। लेकिन इस बारे में सोचे बिना लोग जिस तरह आरोपी व्यक्ति पर हमला कर-के उसे पीट-पीट कर मार डालते हैं, उसका किसी भी लिहाज से समर्थन नहीं किया जा सकता। यह न केवल घोर अलोकतांत्रिक और अमानवीय बर्ताव है, बल्कि कानून के खिलाफ भी है।

अफसोस की बात है कि कई बार सरकारें ऐसे लोगों के खिलाफ तत्काल कार्रवाई करने में हीला-हवाली करती हैं और दूसरी ओर कुछ लोग भी ऐसी घटनाओं को सही ठहराने की दलील खोजने लगते हैं। इससे न केवल कानून का शासन कमजोर होता है, बल्कि समाज में अराजकता की प्रवृत्ति बढ़ती है। इसलिए प्रधानमंत्री ने साफ तौर पर ऐसे तत्त्वों के खिलाफ सख्त कार्रवाई करने और दोषियों को कड़ी सजा दिलाने की बात कही है, तो झारखंड सहित सभी राज्य सरकारों को उनके बयान की गंभीरता को समझना चाहिए। विडंबना यह भी है कि कुछ नेताओं के बयान और उनकी हरकतें भी ऐसे तत्त्वों को बढ़ावा देती हैं। राजनेताओं से जहां यह अपेक्षा की जाती है कि वे भीड़ की हिंसा पर काबू पाने में अपनी भूमिका निभाएं, वहीं ऐसी खबरें दुखद हैं कि कोई राजनेता ऐसी घटनाओं के सजायाफ्ता लोगों का स्वागत करे। हालांकि प्रधानमंत्री ने पहले भी गोरक्षा के नाम पर हुई हिंसा को लेकर गंभीर चिंता जाहिर की थी और ऐसे कामों में लगे लोगों के खिलाफ नाराजगी जाहिर की थी। मगर उसके बाद भी भीड़ द्वारा कानून हाथ में लेकर किसी को पीट-पीट कर मार डालने या किसी से जबरन कोई खास नारा लगवाने की कई घटनाएं सामने आई थीं।

यह कानून-व्यवस्था के साथ-साथ देश की उस परंपरा के भी खिलाफ है, जिसमें अलग-अलग धर्मों-मतों में विश्वास रखने वाले तमाम लोग खुद को एक सूत्र में बंधा पाते हैं। लेकिन पिछले कुछ समय से किसी अफवाह की वजह से अचानक इकट्ठा हुई अराजक भीड़ के बीच जिस तरह कानून को हाथ में लेने की प्रवृत्ति बढ़ी है, उससे सबसे बड़ा नुकसान हमारे लोकतंत्र को ही पहुंचेगा। कानून का शासन किसी भी व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए एक सबसे अहम कारक है और इसे ताक पर रख कर अगर कुछ लोग अराजक हो जाते हैं, तो यह एक चिंताजनक स्थिति है। इस मसले पर सुप्रीम कोर्ट भी सख्त रुख अख्तियार करते हुए कह चुका है कि कोई भी नागरिक अपने आप में कानून नहीं बन सकता है; लोकतंत्र में भीड़तंत्र की इजाजत नहीं दी जा सकती, इसलिए राज्य सरकारें संविधान के मुताबिक काम करें।

महाबली पर मुकदमा

अमेरिका की एक संघीय अदालत का फैसला दुनिया की तमाम अदालतों के लिए एक नजीर है। उस अदालत ने अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप के खिलाफ मुकदमा चलाने की डेमोक्रेटिक पार्टी की अपील को मंजूरी दे दी है। यानी अब ट्रंप के खिलाफ मुकदमा चलाया जा सकेगा। वहां के सांसद सूचनाएं एकत्र करने के लिए समन भेज सकते हैं। डेमोक्रेटिक पार्टी के दो सौ सांसदों ने आरोप लगाया है कि ट्रंप राष्ट्रपति रहते हुए संघीय सरकारों और विदेशों से उपहार लेते रहे हैं, जबकि अमेरिकी संविधान के मुताबिक बिना संसद की मंजूरी के राष्ट्रपति पद का निर्वाह कर रहा व्यक्ति इस तरह का कोई भी उपहार स्वीकार नहीं कर सकता। फिर उन्होंने आज तक अपने कारोबारी रिश्ते समाप्त नहीं किए हैं। अमेरिकी संविधान के मुताबिक राष्ट्रपति पद पर रहते हुए कोई भी व्यक्ति अपने कारोबार में संलिप्त नहीं रह सकता। मगर ट्रंप संविधान की परवाह न करते हुए अपने कारोबार भी चलाते रहे। यह एक तरह से सांसदों को उनके कामकाज में बाधा पहुंचाने जैसा है। इस पर संविधान के नियमों की अनदेखी करने के आरोप में वहां की संघीय अदालत ने ट्रंप के खिलाफ मुकदमा चलाने की मंजूरी दे दी है। अमेरिकी सदन की अध्यक्ष नैन्सी पोलोसी ने भी इस फैसले का स्वागत किया है। उन्होंने कहा कि कोई भी व्यक्ति संविधान से ऊपर नहीं हो सकता, चाहे वह राष्ट्रपति ही क्यों न हो।

डोनाल्ड ट्रंप जब राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव मैदान में उतरे तभी से उनके बयानों, उनके जीवन से जुड़ी अनेक गतिविधियों, कारोबारी अनियमितताओं, चुनावों में धांधली आदि को लेकर तरह-तरह के आरोप लगते रहे हैं। राष्ट्रपति बनने के बाद उनके अनेक फैसले विवादों के घेरे में रहे। शुरुआती दिनों में ही उनके फैसलों को चुनौती मिलने लगी थी। उनके दूसरे देशों से आने वाले शरणार्थियों पर रोक लगाने संबंधी फैसले पर भी एक संघीय अदालत ने रोक लगा दी थी। तब ट्रंप को दुनिया भर में काफी किरकिरी झेलनी पड़ी थी। अपने कार्यकाल में ट्रंप के कामकाज के तरीके को लेकर गहरा असंतोष व्यक्त किया जाता रहा है। वे अनेक मामलों में संसद को विश्वास में लिए बगैर खुद मनमाने तरीके से फैसले करते रहे हैं। उनका यह रवैया न सिर्फ विपक्ष के संसद सदस्यों, बल्कि उनकी पार्टी के लोगों और आम लोगों को खटकती रही है। यही वजह है कि जब संघीय अदालत में उन पर मुकदमा चलाने की अपील की गई और उसे खारिज करने की तमाम कोशिशों के बावजूद अदालत ने उसे स्वीकार कर लिया, तो बहुत सारे लोगों ने उसका स्वागत किया है।

अमेरिका में राष्ट्रपति को बहुत ताकतवर माना जाता है। उसकी तरफ दुनिया भर की नजर रहती है। उसके आचरण से न सिर्फ अमेरिकी लोगों, बल्कि दुनिया के बहुत सारे मामलों पर असर पड़ता है। इसलिए जब इस सर्वोच्च पद का निर्वाह कर रहे व्यक्ति पर संविधान के खिलाफ आचरण करने का आरोप लगता है, तो स्वाभाविक ही अमेरिका की छवि धूमिल होती है। मगर वहां की जिस अदालत ने ट्रंप के खिलाफ मुकदमे को मंजूरी दी, उस न्यायाधीश के साहस और अपने संविधान के प्रति निष्ठा भी एक मिसाल है। ट्रंप को शायद लगता रहा होगा कि वे जिस तरह राष्ट्रपति चुनाव को प्रभावित कर सत्ता तक पहुंच गए, उसी तरह अपने फैसलों और अपनी मनमानियों पर भी लोगों को चुप्पी साधे रखने को विवश कर सकेंगे। पर खुद को संविधान और कानून से ऊपर मान बैठना उनके लिए खतरे की घंटी साबित हुआ।

कल्पमेधा

नसीहत बर्फ की तरह है। जितना धीरे-धीरे गिरती है, उतनी ही ज्यादा स्थायी होती है और गहराई से मन में प्रवेश करती है।

– कॉलरिज

शिक्षा नीति और सवाल

ऋषभ कुमार मिश्रा

सवाल यह है कि वह भारतीय जिसकी बोली, भाषा, गणित, विज्ञान, अध्यात्म में 'भारतीयता' है लेकिन उसकी आवाज राज्य के प्रतिष्ठानों जैसे स्कूलों, अदालतों, दफ्तरों तक नहीं पहुंच पा रही है, उसे क्या यह शिक्षा नीति कुछ दे पाएगी? क्या 'दक्षता' को परिभाषित करने का सांस्कृतिक नजरिया, बाजारवादी नजरिए के बीच अपना रास्ता तलाश पाएगा? क्या शोध के रास्ते उच्च शिक्षा मौलिक चिंतन, विश्लेषणात्मक दृष्टि और सृजनधर्मिता द्वारा ज्ञान के भारतीय संस्करण की नींव डल पाएगी?

नई शिक्षा नीति का प्रस्तावित मसौदा आम जनता की राय के लिए आ चुका है। इस मसौदे को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि एक आदर्श भारतीय समाज और इसकी शिक्षा व्यवस्था के लिए सुंदरतम शब्दों, मुहावरों और तरीकों के साथ एक नई व्यवस्था आकार लेने जा रही है। यह नीति वर्तमान और भविष्य के बीच राज्य के रुख को स्पष्ट करती है। इस नीति में एक सकारात्मक सोच निहित है जो शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के निजी और नागरिक जीवन को समृद्ध करना चाहती है। प्रस्तावित मसौदे के आरंभ में ही स्पष्ट किया गया है कि इसका लक्ष्य शिक्षा द्वारा भारत के प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण विकास है। जहां-जहां सर्वांगीण विकास का उल्लेख है, वहां प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः इस विकास को ज्ञान आधारित समाज, इक्कीसवीं सदी की दुनिया की दक्षताओं- आलोचनात्मक और सृजनात्मक चिंतन, निर्णय लेना आदि, चौथी औद्योगिक क्रांति की तैयारी और संवैधानिक मूल्यों, खासकर समानता, के सापेक्ष परिभाषित किया गया है। इस वैश्विक दृष्टि के साथ इतिहास बोध और सांस्कृतिक अस्मिता के पक्ष को पूरा स्थान देकर यह प्रयास किया गया है कि परंपराओं, इतिहास, संस्कृतियों और मूल्यों के साथ इक्कीसवीं सदी की जरूरतों को पूरा किया जाए। इन दोनों आयामों का संतुलन ही इक्कीसवीं सदी का भारत बनाएगा, ऐसी मान्यता इस नीति में निहित है। यह मान्यता दुधारी तलवार के समान है। यदि नीति के क्रियान्वयन में किसी एक के पक्ष में झुकाव हुआ तो वह भारतीयता के सामासिक अर्थ का विग्रह कर देगा। यह भी ध्यान देना आवश्यक है भारतीयता का असल अर्थ उसके बहुवचन में है। देखना है कि यह नीति इस बहुवचन को कैसे क्रियान्वित करती है?

प्रस्तावित नीति को दो दृष्टियों से समझने की आवश्यकता है। पहली तो यह कि इस नीति की कौनसी संस्तुतियां 'नए भारत' के लिए नई शिक्षा प्रणाली हेतु हैं? दूसरा यह कि ये संस्तुतियां वर्तमान भारत के एक नए भविष्य की कल्पना किस रूप में करती हैं? आखिरी शिक्षा नीति वर्ष 1986 में आई थी। तब से अब तक का भारत बदल चुका है। जन शिक्षा का प्रसार, स्कूली शिक्षा का मौलिक अधिकार, उच्च शिक्षा का व्यावसायिक ढांचा, निजी क्षेत्र का पर्याप्त प्रसार, शैक्षिक प्रशासन और वित्त में सुधार व बढ़ोत्तरी के प्रयास आदि के आंकड़े इसके प्रमाण हैं। इसके साथ ही वतर्मान में नई संभावनाएं और चुनौतियां भी हमारे सामने खड़ी हैं। जैसे, शहरीकरण लगातार बढ़ रहा है, पर्यावरणीय संकट गंभीर है, क्षेत्रीय विषमताएं बढ़ी हैं, बेरोजगारी के आंकड़े भी चिंताजनक स्तर पर हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति-आर्थिक हालात ऐसे हैं कि हम वैश्विक स्तर पर सुदृढ़ स्थिति के बिना आर्थिक अवसरों का लाभ नहीं उठा सकते। सामाजिक और वैचारिक स्तर पर अस्मिता की राजनीति ने नई चुनौतियां खड़ी की हैं। आज हम डिजिटल क्रांति को स्वीकार कर चुके हैं, लेकिन इसकी लागत अभी भी अधिक है। शिक्षार्जित ज्ञान और कुशलता के आधार पर एक नया वर्ग पैदा हो चुका है। इसके लिए शिक्षा एक 'लोकवस्तु' है, इसे स्वीकार करते हुए प्रस्तावित नीति इसकी उपलब्धता, गुण और व्यवस्था का दायित्व राज्य को सौंपती है। इसके साथ ही यह नीति इतिहास, भाषाओं, लोक विद्याओं और देशज विज्ञान की उपेक्षित धाराओं को पुनर्सजित करने पर भी बल देती है। इसे स्कूलों से लेकर उच्च शिक्षा तक के पाठ्यक्रम का अंग बनाने का सुझाव देती है।

प्रस्तावित नीति 'नए भारत' शिक्षा के स्थायी संकट-परीक्षा केंद्रित रटंत प्रणाली से मुक्त करना चाहती है। नए भारत में विकास के लिए आवश्यक सांस्कृतिक पूंजी के प्रसार को मध्यमवर्ग तक सीमित न रख कर वहां तक पहुंचाना चाहती है जहां इसे खरीदने की क्रयशक्ति नहीं है, जहां इसकी सुविधा नहीं है और इसके अभाव में जहां विकास के बाधक फल-फूल रहे हैं। यही इस नीति की सुंदरता और सीमा है। उदाहरण के लिए, जिन आयामों और गुणों को इस शिक्षा नीति में मानव विकास का संकेतक माना गया है, उन्हें भारत का विशालकाय मध्यम वर्ग आधुनिक प्रगतिशील स्कूलों और उच्च शिक्षा के चुनिंदा श्रेष्ठ केंद्रों में खरीद रहा है, लेकिन जो बड़ा जनसमुदाय इसके दायरे से बाहर है वहां भी इस सांस्कृतिक पूंजी को पहुंचाने का नैतिक और कानूनी दायित्व राज्य को सौंपना इस नीति का ध्येय है। इस नीति में औपचारिक शिक्षा की एक नई रूपरेखा सुझाई गई है जिसके अंतर्गत किसी भी व्यक्ति के लिए तीन वर्ष की आयु से अठारह वर्ष की आयु तक शिक्षा का प्रबंध है। उल्लेखनीय पक्ष यह है कि पूर्व विद्यालयी शिक्षा को शिक्षा के अधिकार कानून और 'पोषण के साथ सीखने' की आधारभूत मान्यता के रूप को भी औपचारिक शिक्षा से जोड़ा गया है। इसके लिए यथोचित

उपाय किए गए हैं, लेकिन इनमें आंतरिक विसंगतियां भी हैं। जैसे- इस नीति में गुरुकुल, मदरसों और परिवारों, सीखने के सांस्कृतिक तरीकों का संदर्भ लिया गया है और उनकी विशेषताएं बताई गई हैं। यह भी सुझाव है कि इन्हें आने वाले समय में स्कूल की संस्था में स्थापित कर दिया जाए। इस सुझाव के मूल में ही विरोधाभास है। गुरुकुल या परिवार, नौकर-हाकिम जैसे संबंधों से नहीं चलते। इसी तरह, स्कूलों के लिए राष्ट्रीय शिक्षक कार्यक्रम और सामाजिक कार्यकर्ताओं के सहयोग जैसी संस्तुतियां भी विसंगति युक्त हैं।

इस दस्तावेज के प्रत्येक खंड में जिन लक्ष्यों का उल्लेख किया गया है, वे बेहद रूमानी, आकर्षक और उम्मीद जगाने वाले हैं। लेकिन जैसे-जैसे इन अध्यायों में आगे बढ़ते हैं, बिखराव और वैकल्पिक प्रयोगों की सूचियों देखने को मिलती हैं। ये वैकल्पिक प्रयोगों की सूचियां वैसी ही हैं, जैसे किसी शोध प्रबंध के अंत में निहितार्थ, भावी सुझाव दे दिए जाते हैं। इनमें यह मान्यता अंतर्निहित है कि उच्च शिक्षा को शोधोन्मुख करना तमाम समस्याओं का हल है। हाल में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) ने भारत के विश्वविद्यालयों में हुए शोध कार्यों की गुणवत्ता पर सवाल उठाए हैं। ऐसी स्थिति में बिना समुचित तैयारी के शोध का राग अलापना उच्च शिक्षा में वैसी ही स्थिति न पैदा कर दे, जैसे प्रोजेक्टों के नाम पर माध्यमिक शिक्षा में खानापूर्ति हो रही है।

यह अवलोकन महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तावित नीति केवल बौद्धिक विकास द्वारा अर्जित चेतना की सीमा को रेखांकित करती है। इसी कारण पूर्व प्राथमिक से शोध स्तर तक रचनात्मक, गैर-परंपरागत चिंतन, सामाजिक-नैतिक सरोकार आदि को महत्त्व दिया गया है। मनुष्य कहीं रोबोट न बन जाए, कहीं उसका संस्कृति बोध कमजोर न हो, कहीं वह आत्म-केंद्रित आर्थिक प्राणी न रह जाए, इसकी चिंता बराबर बनी हुई है। इसी चिंता से मुक्ति के लिए 'लिबरल आर्ट्स' को इस नीति में पर्याप्त स्थान दिया गया है। खासकर उच्च शिक्षा के लिए इसे अपरिहार्य कर दिया गया है। इसे उपदेशात्मक न बना कर खुद की जिज्ञासा, अभिक्षमता और अभिरुचि के अनुरूप विकसित करने का लक्ष्य है। देखना यह है कि ज्ञान आधारित समाज के लिए बनी इस नीति में कला-संस्कृति-समाज के पक्ष को संजोए ये उदार विषय किताबी हर्फ से सीखने की संस्कृति का हिस्सा कैसे बनेंगे? कैसे बाजार के लिए ज्ञान के शोर में ज्ञान के सामाजिक-नैतिक सरोकार व्यक्ति के चेतना में प्रकट होंगे?

सवाल यह है कि वह भारतीय जिसकी बोली, भाषा, गणित, विज्ञान, अध्यात्म में 'भारतीयता' है लेकिन उसकी आवाज राज्य के प्रतिष्ठानों जैसे स्कूलों, अदालतों, दफ्तरों तक नहीं पहुंच पा रही है, उसे क्या यह शिक्षा नीति कुछ दे पाएगी? क्या 'दक्षता' को परिभाषित करने का सांस्कृतिक नजरिया, बाजारवादी नजरिए के बीच अपना रास्ता तलाश पाएगा? क्या शोध के रास्ते उच्च शिक्षा मौलिक चिंतन, विश्लेषणात्मक दृष्टि और सृजनधर्मिता द्वारा ज्ञान के भारतीय संस्करण की नींव डल पाएगी? क्या नौकरी के प्रयोजनमूलक लक्ष्य को स्वालंबन की ताकत से स्थानांतरित किया जा सकता है? अब जबकि औद्योगिक क्रांति के सामाजिक-सांस्कृतिक-पर्यावरणीय (दुष)परिणाम, हमारे सामने हैं, तब क्या भावी पीढ़ी अपने समाज के विकास के लिए कोई नया सांस्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक आख्यान गढ़ पाएगी?

कुदरत से दूर

वीणा शर्मा

दुनिया मेरे आगे

कितनी बेचारगी से भरा दृश्य है! फलों से लदा हुआ पेड़ और अपने-अपने मोबाइल में सिर घुसाए बेखबर युवा। शहर के हरे-भरे इलाके में आंखें पहचानती हैं। फलों से लदे बहुत सुंदर पेड़, एकाकी, अनछुए, उदास और परेशान खड़े हैं। न चिड़िया की चहचहाहटें हैं और न ही तोतों का शोर सुनाई देता है। ऐसा नहीं है कि वे आते नहीं, लेकिन चोंच भर कर खाने वाले भला कितना कौर काटेंगे? खदबदाते वातावरण से भला वे कैसे अछूते रह पाएं? जहां पानी होता होगा, वहीं से चुग्गा भी चुन लेते होंगे। दूसरे शहर की हवा और तारों के जंजाल उनकी प्रवेश निषिद्धि के प्रमाण हैं। यहां आम, अमरूद और पास ही बेरों से लदे पेड़ राहगीरों को तकते हैं, अपने लहराते झोंकों से पास बुलाते हैं। लेकिन प्रगति का जहर सब कुछ नष्ट करता जा रहा है। गगनचुंबी इमारतें पेड़ों के सौंदर्य को निरखना क्या जानें, जो कुओं, तालाबों की जगह को हथिया कर खड़ी हों। रुंड-मुंड से पार्कों के चारों ओर चक्कर लगाने वाले तथाकथित आधुनिक मनुष्य नपे-तुले समय में अपने शरीर को साधने की नाकाम-सी कोशिश करते रहते हैं। पेड़ों की जरूरत को दरकिनार किए अपने छज्जे पर लटकाए गए गमलों से सराबोर उसी में एक आनंद की पूर्ति करते रहते हैं। पानी के लिए चीख-पुकार अभी दूर से सुनाई दे रही है।

कुछ समय पहले बच्चों के लिए कहानी की एक कार्यशाला थी। उसमें जब उनसे पूछा गया कि उन्हें कौन-सी कहानियां अच्छी लगती हैं- पक्षियों, जानवरों की या फिर किसी अन्य विषय की, तो साठ बच्चों में से अधिकतर बच्चों ने कहा कि उन्हें जासूसी कहानियां अच्छी लगती हैं। उनसे पूछा गया कि दूध कहां से आता है तो जवाब मिला- 'मदर डेयरी से'। इसमें हैरानी की बात नहीं थी, क्योंकि बच्चों के सामने जो दिखाया जाता है या जो उपलब्ध होता है, वे उतना ही जान पाते हैं। वास्तविक या बाहरी दुनिया से उनका वास्ता कम पड़ता है। पिछली पीढ़ी में फिर भी बाग-बगीचे वाले घर होते थे। तब चिड़िया, कौवा, तोता, हाथी, भालू की तरह ही पेड़-पौधों के बारे में वे भली-भांति जानते थे। लेकिन आज छोटे-छोटे फ्लैटों में रहने के कारण गमले के पौधों का ज्ञान लेने वाली पीढ़ी भला पेड़ों के नाम क्या जानेगी। किसी पेड़ के पास थोड़ी देर रुक कर वे देखते होंगे, इसमें संदेह है। कब कौन-से पेड़ पर फूल खिलते हैं या किन पेड़ों पर कब फल लगते हैं, इसकी जानकारी हमारे आज के बच्चों को नहीं है।

मार्च के महीने में पलाश फूलता है और पलाश के फूलों से ही होली के रंग भी बनते हैं। फिर गुलमोहर, मौलश्री। अमलतास तीखी धूप में अपने घुंघराले बालों की अनोखी सजावट में सबका ध्यान खींचता है। छांव नहीं, धूप के ताप को जज्ब करता, नित निखरता, पिघले सोने-सा, धूप का मुंतजिर- अमलतास। सांची के स्तूप के चारों ओर खिरनी के अनगिणत पेड़ फलों से लद जाते हैं। कुछ ऐसे सघन छाया वाले पेड़ हैं, जिनके नाम हममें से भी कोई नहीं जानता। हर शहर हर देश में भिन्न-भिन्न प्रजातियों के पेड़ हैं। सैकड़ों जड़ी-बूटियों, औषधीय गुणों को अपने अंदर छिपाए हुए पेड़ पर्यावरण का मूलाधार हैं।

पेड़ खत्म हो रहे हैं। चिड़िया दिखाई नहीं देती। मन कुछ साल पीछे जाकर बरगद की चौपालों में झांकने लगता है, जहां बरगद जैसे ही अनुभवों के पके वृद्ध किस्से-कथाओं से उस जगह को गुलजार किए रहते थे। बीच में बैठे वृद्ध-जन और उनके चारों ओर बरगद की जटाओं के साथ खेलते बच्चे साथ-साथ उस अनुभव को भी अपने अंदर उतार लेते थे। कभी कहानियां, कभी पहेलियां। अब तो कहानियां भी खत्म हो रही हैं, पहेलियां कहां बची होंगी! बरगद की शाम अगर बुजुर्गियत के ज्ञान से संवर्धित होती थी तो घरों के कामकाज निपटा कर गांव की बड़ी-बुजुर्ग महिलाएं और नवोढ़ाएं अपने-अपने कसीदों वाले सामान के साथ आ बैठती थीं। तब कौवा और कोयल भी पास की डाली या बनेरे पर ही बैठा करते थे। ऐसे में कई लोकगीतों की रचना हुई होगी। उस समय कच्ची दीवारें गोबर-मिट्टी की लिपाई से भी ठंडक का अहसास देती थीं। तब एयरकंडीशनर नहीं होते थे।

वे दिन कितने बढ़िया थे। तब पानी भी इफरात में था। कोई घर किसी से अनजाना नहीं था। उन कच्चे घरों में लगाए गए पेड़ ही उनके पालनहार बन जाते थे। लोगों के जमावड़े में शहतूत के फल, जामुन के भरे कटोरे दिए-लिए जाते थे। लेकिन एक-एक कर-के वे सारे पेड़ 'स्मार्ट सिटी' की भेंट चढ़ते चले गए। लोग विकास की चमक में खोते चले गए और हम पेड़ों से दूर होते गए। विकास और विनाश साथ-साथ चलते हैं। पुराने को अपदस्थ करके नया स्थापित होता है। आज की पीढ़ी आम और अमरूद के अलावा शायद ही किसी अन्य पेड़ के बारे में बता पाएं। दूसरी ओर, नित नए फैशन की तरह पर्यावरण दिवस पर पेड़ लगाने के संदेश खूब प्रसारित होते हैं, लेकिन वास्तव में कितने सही प्रयास होते हैं, यह सब जानते हैं। सच यह है कि आज हम प्रकृति से दूर हो चुके हैं। यह आज की विडंबना है।

जल से ही कल

हम शुरू से ही 'जल ही जीवन है' सुनते आ रहे हैं। इसे आज भी सुनना बेहद जरूरी है। लेकिन कई बार ऐसा होता है कि हम सच जानने के बावजूद उसकी गहराई में उतर कर उसकी स्थिति जानने की कोशिश नहीं करते हैं। आज भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व जल के संकट से जूझ रहा है। यह भी कहा जाने लगा है कि तृतीय विश्वयुद्ध जल के कारण होगा। लेकिन इतनी भयावह स्थिति के बावजूद जल को लेकर हम, हमारा समाज और हमारी सरकार न तो सतर्क दिखाई देती है और न ही किसी प्रकार के कोई ठोस कदम उठाए जाते हैं। जो कुछ किया भी जाता है, वह इस समस्या के विकराल रूप के सामने बहुत ही बौना मालूम पड़ता है। जल संरक्षण किसी सरकार मात्र की जिम्मेदारी नहीं है, इस बात को नकारा नहीं जा सकता है। जल संरक्षण के लिए हरेक व्यक्ति को जागरूक होना पड़ेगा।

आज भारत का सत्तर प्रतिशत वर्ग ऐसा है, जिसे स्वच्छ पानी मुहैया नहीं हो पाता है। पचास फीसद भारत का भूभाग जल की भयंकर कमी से जूझ रहा है। हफ्ते या कहीं-कहीं तो महीने में एक बार पानी का टैंकर आता है और पानी ऐसे बांटा जाता है जैसे कोई प्रसाद बांटा जा रहा हो। लोगों को आपस में इसके लिए लड़ना पड़ता है। जिनको पानी मिल पा रहा है, उनके लिए यह विषय विचारणीय नहीं है। ऐसा उन्हें लगता है, क्योंकि जिसकी थाली में रोटी होती है, उसे पूरी दुनिया का पेट भरा हुआ ही लगता है।

हम जो कुछ पर्यावरण और प्रकृति के साथ कर रहे हैं, उसके परिणाम भी अब धीरे-धीरे हमें देखने को मिल रहे हैं। फिर भी हमारी चेतना न जाने कहां सो गई है। हमें 'विकास' न जाने कहां लेकर आ गया है, जहां न कटते पेड़ दिखाई देते हैं, न हमें तालाबों और झीलों का पाटा जाना जाना दिखता है। हम विकास की सबसे ऊंची मंजिल पर खड़े होना चाहते हैं, जहां से हमें धरातल नहीं दिखता। प्यास से तड़प कर मरते पशु-पक्षी नहीं दिखते, कला गंदा पानी पीते इंसान नहीं दिखते, कोसों दूर किसी कुएं से पानी लाती महिलाएं नहीं दिखतीं। आज सभी लोगों को 'हम सुधरेंगे जग सुधरेगा' सिद्धांत को अपने आचरण में शामिल करने की आवश्यकता है। किसी शायर ने कहा है- 'अब नहीं सुधरे तो आलम इससे बदतर आएगा/ आने वाला कल लिए हाथों में खंजर आएगा!'

● *मुकुल सिंह चौहान, जामिया मिल्लिया, दिल्ली*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

स्त्री की जगह

दुनिया में विवाह को लेकर कभी किसी ने अलग से सोचने की कोई जरूरत महसूस नहीं की। कुछ कबीलों और कुछ उन्नत सभ्यताओं को छोड़ कर दुनिया के अधिकांश हिस्सों में विवाह के बाद दुल्हन दूल्हे के घर जाती है। ऐसा लगता है कि सत्ता और शारीरिक बल अधिक होने की वजह से इस रिवाज को तय करने में पुरुषों ने महिलाओं से कोई विचार-विमर्श नहीं किया होगा। उन्हें लगा कि उनके लिए यह हितकारी होगा कि परिवार की लड़की घर छोड़ कर जाए, वे नहीं। उन्हें शायद नए वातावरण में तालमेल बिठाने का कार्य कठिन लगा और इसीलिए उन्होंने ऐसे नियम बनाए जो उनके हित में हों।

मेरा मानना है कि विवाह प्रथा तो बनी रहे और बारात भी लड़की के घर आए, लेकिन विवाह होने के बाद दूल्हा अपनी दुल्हन के घर रहे। दूल्हा उम्र में बड़ा होता है और मोटे तौर पर शारीरिक दृष्टि से मजबूत होता है। उस पर अपने ससुराल में वे जुल्म नहीं होंगे जो अक्सर नव-विवाहिताओं के साथ होते हैं। पुरुष होने के कारण वे रात के अंधेरे में भी वापस अपने घर जा सकते हैं। शारीरिक संरचना की वजह से वे विषम परिस्थितियों का मुकाबला आसानी से कर सकते हैं।

बच्चों को लेकर भी विचार करने की जरूरत है। बच्चों को नौ महीने महिलाएं अपनी कोख में रखती हैं। फलस्वरूप, बच्चों को मां का 'कुलनाम' दिया जाना चाहिए। पुरुष ने प्रारंभ से ही अपने लिए सुविधाजनक नियम बनाए और वह उन्हें महिलाओं पर थोपता गया। ये तीन तलाक से बड़े मुद्दे हैं और इन पर गौर करना जरूरी है। इस व्यवस्था के लागू होने पर 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' जैसे खोखले नारों की जरूरत स्वतः समाप्त हो जाएगी, क्योंकि तब यह अपने आप होने लगेगा।

● *सुभाष चंद्र लखेड़ा, द्वारका, दिल्ली*

गरीब की जान

क्या गरीबों की जिंदगी का कोई मूल्य नहीं रहा? कब तक वाहन चालकों द्वारा अमानवीय लापरवाही बरती जाएगी? कोई उपाय नहीं होने पर सड़क किनारे और फुटपाथ पर सोने पर मजबूर लोगों की जिंदगी पर मौत का संकट मंडराता रहता है। आए दिन न जाने कितने लोग और बच्चे वाहन चालकों की लापरवाही के शिकार हो जाते हैं। बिहार की राजधानी पटना में बुधवार को एक बेकाबू कार ने फुटपाथ पर सो रहे चार मासूम बच्चों को कुचल दिया, जिनमें तीन बच्चों ने मौके पर ही दम तोड़ दिया, जबकि एक का पांव टूट गया। कुछ दिन पहले भी इसी तरह की घटना मथुरा में भी सामने आई थी। आवश्यकता इस बात की है कि वाहन चालकों द्वारा मादक पदार्थों का सेवन करके वाहन चलाने और यातायात नियमों का पालन नहीं करने पर जुर्माने के साथ-साथ उनके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की जाए। फुटपाथ पर सोने पर मजबूर लोगों के लिए सरकार द्वारा अलग से व्यवस्था की जानी चाहिए, ताकि इस तरह की घटनाओं पर लगाम लगाई जा सके।

● *संजू कुमार, हनुमानगढ़, राजस्थान*

अभाव के अस्पताल

कई बार किसी बीमारी के मूल कारणों का पता लगाना मुश्किल होता है, लेकिन अगर उससे बचाव और उपचार के बेहतर उपाय किए जा सकें तो हालात को काबू में करने में मदद मिलती है। बिहार और केंद्र सरकार सुप्रीम कोर्ट के सवालों का चाहे जो जवाब दें, यह सच्चाई है कि मुजफ्फरपुर का श्रीकृष्ण मेडिकल कॉलेज अस्पताल पर्याप्त संसाधनों से लैस नहीं दिखा। ऐसा तब हुआ, जब यह उत्तरी बिहार का प्रमुख मेडिकल कॉलेज है और कई वर्षों से एक्यूट इंसेफलाइटिस सिंड्रोम के मरीजों की मौत का गवाह बनता रहा है। संसाधनों के अभाव का सामना कर रहा यह अस्पताल देश में सरकारी स्वास्थ्य ढांचे की खराब स्थिति का ही बयान करता है। आवश्यक केवल यही नहीं कि बिहार में बच्चों की मौत का सिलसिला थमे, बल्कि यह भी है कि केंद्र और राज्य सरकारी स्वास्थ्य ढांचे को दुरुस्त करने के लिए कमर कसें।

● *हेमंत कुमार, गोराडीह, भागलपुर*